आराधनासार

अनुक्रमणिका

मंगलाचरण

001) मंगलाचरण
001) आराधना - लक्षण और भेद
003) व्यवहार आराधना - लक्षण और भेद
003) सम्यग्दर्शन आराधना
005) व्यवहार ज्ञानाराधना
005) चारित्र आराधना
007) तप आराधना
007) निश्चय आराधना
009) निश्चय आराधना का विशेष
009) निश्चय आराधना का सारांश
011) निश्चय आराधना
011) व्यवहार आराधना साधन
013) संसार को कैसे छोड़े?
013) आराधना-रहित की गति
015) निश्चय आराधक पहले क्या करे?
015) व्यवहार आराधना का प्रयोजन
017) अराधना कैसे और कब तक?
017) आराधक के और भी लक्षण
019) और भी
019) विराधना
021) आत्म-ज्ञान बिना आराधना नहीं
021) कर्म-नष्ट के लिए सात स्थल
024) अर्ह का लक्षण
024) अर्ह के योग्य कब?
029) निश्चय अर्ह
029) निरालम्ब अवस्था के लिए अन्य क्या?
031) परिग्रह-त्याग का फल
031) परिग्रह त्याग की प्रेरणा
033) क्षपक के अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग
033) इन्द्रिय विषयों का त्याग
035) कषायों का त्याग
035) कषाय का स्वरूप
037) कषाय रहित ही संयमी
037) क्षय रहित ही ध्यान योग्य
039) कषाय रहित क्षोभ-रहित होता हुआ ध्यानस्थ
039) ज्ञान द्वारा परिषह पर विजय
041) परिषह से पराजित
041) परिषह को जीतने का उपाय
043) तीव्र वेदना में मध्यस्थ भावना
043) चारित्र छोड़ने का फल
045) तीन गुप्ति द्वारा मन पर नियंत्रण
045) ज्ञान रूपी सरोवर में प्रवेश
047) उपसर्ग के समय समता
047) ज्ञानमय भावना से उपसर्ग जीते जाते हैं

049) अचेतन कृत उपसर्ग सहन
049) मनुष्यकृत उपसर्ग सहन
051) देव-उपसर्ग सहन के उदाहरण
051) उपसर्ग सहन की शिक्षा
053) विषय-लोलुपता
053) विषयाभिलाषी के सभी प्रयास व्यर्थ
055) मन-स्थित विषयाभिलाषा
055) इन्द्रिय-सुख में मग्नता
057) इन्द्रिय-सुख सुख नहीं
057) मन पर नियंत्रण द्वारा इन्द्रिय संयम
059) मन रुपी राजा
059) मन के मरण द्वारा ही संयम
062) मन का निवारण नहीं तो क्या गति?
062) उदाहरण
064-065) मन को वश में करने का उपदेश
064-065) मन विस्तार का अभाव
067) और भी
067) मन-वृक्ष का छेद
069) मन द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण
069) मन की उत्पत्ति और नष्ट होने का फल
071) शून्य मन द्वारा ही कर्म नष्ट
071) स्व-संवेदन ज्ञान की प्रधानता
073) मन-प्रसार नष्ट होने का फल
073) मन-शून्य होने की शिक्षा
075) विषय-विमुख होने की प्रेरणा
075) स्वभाव से शून्य नहीं
077) शून्य-ध्यानी की अवस्था
077) शून्य-ध्यान का लक्षण
079) शुद्ध-भाव
079) शुद्ध-भाव ही रत्नत्रय
081) आत्मा शून्य एक अपेक्षा से
081) चैतन्य स्वाभावि आत्मा ही मोक्ष-मार्ग
083) कर्तृत्व भाव शून्य का विरोधी
083) निर्विकल्प ध्यान से सिद्धि
085) मन नष्ट होने पर आत्मा परमात्मा बनता है
085) शून्य ध्यान से समस्त कर्म क्षय
087) कर्म नष्ट होने का फल
087) केवलज्ञान
089) केवल-सुख
089) आराधना से सिद्धि

सल्लेखना

091) मोक्ष-मार्गी की प्रशंसा
091) क्षपक की प्रशंसा
093) क्षपक को काय-जनित दुःख
093) शयन के दुःख को सहने की प्रेरणा
095) परीषह सहन से कर्मों का क्षय
095) क्षुधा परीषह सहन से कर्म निर्जरा
097) कर्मोदय से चारों गतियों में पाए दुखों का स्मरण
097) क्षपक को भेदज्ञान से सुख
099) पर-भाव से विरक्त हो निज में लीन रहने की प्रेरणा
099) आत्मा को तप द्वारा कर्म से मुक्ति
101) मैं देह-मन नहीं अत: मुझे दुःख नहीं

101) मरण, रोगादिक शरीर को, मुझे दुःख नहीं
103) मैं पर-भावों से भिन्न, एक, शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी, सुखी
103) मैं नित्य, सुख-स्वभावी, अरूपी, चिद्रूपी
105) इस भावना के साथ शरीर से आत्मा को पृथक करो
105) आर्त-रौद्र-ध्यान रहित होकर शरीर को त्यागो
107) कालादि लब्धि द्वारा कर्म-नष्ट करके उसी भव से मुक्ति
107) कर्म शेष रह जाने पर स्वर्गों में वास
109) जघन्य आराधक को भी कुछ भव में मुक्ति
109) आराधक उत्तम देव-मनुष्यों में सुख भोगता हुआ मुक्त होता है
111) आत्म-ध्यान से रहित को तप द्वारा भी मुक्ति नहीं
111) जिन-लिंग द्वारा ही मुक्ति
113) आराधना के उपदेशक को नमस्कार
113) आचार्य अपनी लघुता प्रकट करते हैं
115) आचार्य द्वारा लघुता प्रदर्शन

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-देवसेनाचार्य-प्रणीत
श्री
आराधानासार
मूल प्राकृत गाथा
आभार : हिंदी पद्यानुवाद - गुणभद्र जैन 'कविरत्न', मुंबई
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री आराधानासार नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर ग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीदेवसेनाचार्य विरचितं
॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

विमलयरगुणसमिद्धं सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा ।
णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं ॥1॥
सुर समूह सिर वंद्य नित, निर्मल गुण सुसमृद्ध ।
वन्दन कर उन वीर को, कहूँ साधना शुद्ध ॥१॥
अन्वयार्थ : [विमलयरगुणसमिद्धं] अत्यन्त निर्मल शुद्ध, चैतन्य गुण से परिपूर्ण, [सुरसेणवंदियं] सौधर्मेन्द्र आदि चतुर्णिकाय की देव-सेनाओं से नमस्कृत और [महावीरं] (कर्म नाश करने वाले) अत्यन्त वीर [सिद्धं] सिद्ध परमात्मा को [सिरसा] सिर से [णमिऊण] नमस्कार कर [आराहणासारं] आराधनासार ग्रन्थ को [वोच्छं] कहूँगा ।

आराधना - लक्षण और भेद

आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेग परमट्ठो ॥2॥
तप, दृग, ज्ञान चरणमयी, शुभाराधना सार ।
ये विभक्त दो भेद में, निश्चय वा व्यवहार ॥२॥
अन्वयार्थ : [तवदंसणणाणचरणसमवाओ] तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समूह [आराहणाइसारो] आराधनासार है [सो] वह

आराधनासार [दुब्भेओ] दो भेद वाला [उत्तो] कहा गया है [ववहारो चेग परमट्ठो] एक व्यवहार और एक परमार्थ ।

व्यवहार आराधना - लक्षण और भेद

ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स ।
दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं ॥3॥
मुनियों ने व्यवहार से, कहा साधना सार ।
दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, जिनभाषित सुखकार ॥३॥

अन्वयार्थ : [णूणं] निश्चय से [जिणभासियं] जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ [दंसणणाणचरित्तं तवो य] दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप [ववहारेण] व्यवहारनय से [आराहणाचउक्कस्स] चार आराधनाओं का [सारो भणिओ] सार कहा गया है ।

सम्यग्दर्शन आराधना

भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं ।
आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिंदेहिं ॥4॥
आगमोक्त सद्युक्तियुत, भावों का श्रद्धान ।
उसे दर्शनाराधना, कहते जिन भगवान ॥४॥

अन्वयार्थ : [सुत्तउत्तजुत्तीहिं] आगम में कही हुई युक्तियों के द्वारा [भावाणं] जीवादि पदार्थों का [जं] जो [सद्दहणं] श्रद्धान [कीरइ] किया जाता है [सा] वह [मुणिंदेहिं] मुनिराजों के द्वारा [हु] निश्चय से [सम्मत्ते] सम्यग्दर्शन विषयक [आराहणा] आराधना [भणिया] कही गई है ॥४॥

व्यवहार ज्ञानाराधना

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा ।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते ॥5॥
सूत्र, **अर्थ** की भावना, तत्त्वों का शुभज्ञान ।
सम्यग्ज्ञानाराधना, है सूत्रोक्त प्रमाण ॥५॥

अन्वयार्थ : [सुत्तत्थभावणा] आगम के अर्थ की भावना [वा] अथवा [तेसिं भावाणं] उन जीवादि पदार्थों का जो [अहिगमो] सम्यग्ज्ञान है [एसा] यह [सुत्त] परमागम में [णाणस्य] ज्ञान की [आराहणा] आराधना [उत्ता हवदि] कही गई है ।

चारित्र आराधना

तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए ।
दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा ॥6॥
भाव युक्त पालें सदा, तेरह विध चारित्र ।
द्विविध असंयम त्याग से, है चारित्र पवित्र ॥६॥

अन्वयार्थ : [भावसुद्धीए] भावों की शुद्धि पूर्वक [इह] इस आराधना में [तेरह विहस्स] तेरह प्रकार के [चारित्तस्स] चारित्र का [चरणं] आचरण करना - पालन करना और [दुविहअसंजमचाओ] दो प्रकार के असंयम का त्याग करना [एसा] यह [चारित्ताराहणा] चारित्राराधना [हवदि] है ॥६॥

तप आराधना

बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए ।
सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं ॥7॥

द्वादश विध तप में करे, उद्यम शक्ति प्रमाण ।
वह है तप आराधना, जिन आगम में जान ॥७॥
अन्वयार्थ : [ससत्तीए] अपनी शक्ति के अनुसार [बारहविहतवयरणे] बारह प्रकार के तपश्चरण में [जो उज्जमो] जो उद्यम [कीरइ] किया जाता है [सा] वह [णूणं] निश्चय से [जिणसुत्ते] जिनागम में [तवम्मि आराहणा] तप आराधना [भणिया] कही गई है ।

निश्चय आराधना

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाए एरिसियं ।
सव्वावियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो ॥8॥
होती यह मुनिराज के, चार भेद से युक्त ।
निश्चय शुद्धाराधना, सर्व विकल्प विमुक्त ॥८॥
अन्वयार्थ : [सुद्धणये] निश्चय नय में [आराहणाए] आराधना के [चउखंधं] सम्यग्दर्शनादि चार भेदों का समूह [एरिसियं उत्तं] इस रीति से कहा गया है कि [सव्वावियप्पविमुक्को] समस्त विकल्पों से रहित [सुद्धो] शुद्ध और [णिरालंबो] बाह्य आलम्बन से रहित [अप्पा] आत्मा ही [आराहणा अत्थि] आराधना है ।

निश्चय आराधना का विशेष

सद्दहइ सस्सहावं जाणई अप्पाणमप्पणो सुद्धं ।
तं चिय अणुचरइ पुणो इंदियविसये णिरोहित्ता ॥9॥
श्रद्धा आत्मस्वभाव की, निज में निज शुचि ज्ञान ।
तदाचरण चारित्र है, विषय-त्याग तप ज्ञान ॥९॥
अन्वयार्थ : निश्चयाराधना में यह जीव [सस्सहावं] अपने स्वभावरूप शुद्धात्मा का [सद्दहइ] श्रद्धान करता है, [अप्पणो] अपने आप में [शुद्धं अप्पाणं] शुद्ध आत्मा को [जाणइ] जानता है [पुणो] और [इंदियविसए] इन्द्रिय विषयों को [णिरोहित्ता] संकुचित कर [तंचिय] उसी शुद्ध आत्मा में [अणुचरइ] अनुचरण करता है - उसी में लीन होता है ।

निश्चय आराधना का सारांश

तम्हा दंसणणाणं चारित्तं तह तवो य सो अप्पा ।
चइऊण रायदोसे आराहउ सुद्धमप्पाणं ॥10॥
दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, आत्मरूप ही मान ।
राग-द्वेष तजकर भजो, शुचि चैतन्य प्रधान ॥१०॥
अन्वयार्थ : [तम्हा] इसलिए [दंसणणाणं चारित्तं तह तवो य] दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप [सो अप्पा] वह आत्मा ही है । अतएव [रायदोसे] राग और द्वेष को [चइऊण] छोड़कर [सुद्धमप्पाणं] शुद्ध आत्मा की [आराहउ] आराधना करो ॥१०॥

निश्चय आराधना

आराहणमाराहं आराहय तह फलं च जं भणियं ।
तं सव्वं जाणिज्जो अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥11॥
आराधन, आराध्य, फल, आराधक ये चार ।
भिन्न न चेतन से कभी, निश्चयमत अवधार ॥११॥
अन्वयार्थ : [आराहणं आराहं] आराधन, आराध्य, [आराहय] आराधक [तह] तथा [फलं च] आराधना का फल [जं भणियं] जो कहा गया है [तं सव्वं] उस सबको [णिच्छयदो] निश्चय से [अप्पाणं चेव] आत्मा ही [जाणिज्जो] जानो ।

व्यवहार आराधना साधन

पज्जयणयेण भणिया चउव्विहाराहणा हु जा सुत्ते ।

सा पुणु कारणभूदा णिच्छयणयदो चउक्कस्स ॥12॥

पर्ययनय से सूत्र में, कही गईं ये चार ।

होता निश्चय धर्म का, इससे अति उपकार ॥१२॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [सुत्ते] परमागम में [पज्जयणयेण] भेदनय से [जा] जो [चउव्विहाराहणा] चार प्रकार की आराधना [भणिया] कही गई है [सा पुणु] वही आराधना [णिच्छयणयदो चउक्कस्स] निश्चयनय से कही जाने वाली चार आराधनाओं का [कारणभूदा] कारण [अत्थि] है ।

संसार को कैसे छोड़े?

कारणकज्जविभागं मुणिऊण कालपहुदिलद्धीए ।

लहिऊण तहा खवओ आराहउ जह भवं मुवइ ॥13॥

हेतु, हेतुत् जान के, काल-लब्धि कर प्राप्त ।

मुनि करता आराधना, हो भव-भ्रण समाप्त ॥१३॥

अन्वयार्थ : [कारणकज्जविभागं] कारण और कार्य के विभाग को [मुणिऊण] जानकर तथा [कालपहुदि लद्धीए] काललब्धियों को [लहिऊण] प्राप्त कर [खवओ] क्षपक [तहा] उस प्रकार [आराहऊ] आराधना करे [जह] जिस प्रकार [भवं] संसार को [मुवइ] छोड़ सके ।

आराधना-रहित की गति

जीवो भमइ भमिस्सइ भमिओ पुव्वं तु णरयणरतिरियं ।

अलहंतो णाणमई अप्पा आराहणां णाउं ॥14॥

भ्रमा, भ्रमेगा, भ्रम रहा, यह चेतन संसार ।

की न आत्म-आराधना, है इससे दुखभार ॥१४॥

अन्वयार्थ : [णाणमई] ज्ञानमयी [अप्पा आराहणां] आत्माराधना को [णाउं] जानकर [अलहंतो] नहीं प्राप्त करने वाला [जीवो] जीव [पुव्वं तु] पहले तो [णरयणरतिरियं] नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देवगति में [भमिओ] भटका है [भमइ] वर्तमान में भटक रहा है और [भमिस्सइ] आगे भटकेगा ।

निश्चय आराधक पहले क्या करे?

संसारकारणाइं अत्थि हु आलंबणाइ बहुयाइं ।

चइऊण ताइं खवओ आराहओ अप्पयं सुद्धं ॥15॥

जो पदार्थ भव हेतु हैं, क्षपक, उन्हें तू छोड़ ।

अपने शुद्ध स्वरूप में, तू अपने को जोड़ ॥१५॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [संसारकारणाइं] संसार के कारणभूत [बहुयाइं] बहुत से [आलंबणाइ] आलम्बन [अत्थि] हैं । [खवओ] क्षपक [ताइं] उन्हें [चइऊण] छोड़कर [सुद्धं] शुद्ध [अप्पयं] आत्मा की [आराहओ] आराधना करे ।

व्यवहार आराधना का प्रयोजन

भेयगया जा उत्ता चउव्विहाराहणा मुणिंदेहिं ।

पारंपरेण सावि हु मोक्खस्स य कारणं हवइ ॥16॥

आराधना में भेद जो, वह व्यवहार प्रमाण ।
परम्परा से वे सभी, देती हैं निर्वाण ॥१६॥

अन्वयार्थ : [मुणिंदेहिं] मुनिराजों के द्वारा [भेयगया] भेद को प्राप्त हुई [जा] जो [चउव्विहाराहणा] चार प्रकार की आराधना [उत्ता] कही गई है [हु] निश्चय से [सावि] वह भी [पारंपरेण] परम्परा से [मोक्खस्स य] मोक्ष का [कारणं] कारण [हवइ] होती है ।

अराधना कैसे और कब तक?

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो ।
दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ ॥17॥
निष्कषाय, सदृष्टि हो, भव्य, ज्ञान संयुक्त ।
आराधक वह अन्त में, द्विविध परिग्रह त्यक्त ॥१७॥

अन्वयार्थ : [णिहयकसाओ] कषायों को नष्ट करने वाला, [भव्वो] भव्य, [दंसणवंतो] सम्यग्दर्शन से युक्त, [णाणसंपण्णो] सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण और [दुविह परिग्गहचत्तो] दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी पुरुष [मरणे] मरण पर्यन्त [हु] निश्चय से [आराहओ] आराधना करने वाला [हवइ] होता है ।

आराधक के और भी लक्षण

संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो ।
विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो ॥18॥
जो विरक्त, भव सौख्य से, राग हीन, उपशान्त ।
अनशनादि तप जो करे, साधक वह निर्भ्रान्त ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [संसारसुहविरत्तो] संसार सम्बन्धी सुख से विरक्त है, [वेरग्गं परमउवसमं पत्तो] वैराग्य तथा परम उपशम भाव को प्राप्त है और [विविहतवतवियदेहो] नाना प्रकार के तपों से जिसका शरीर तपा हुआ है [एसो] यह जीव [मरणे] मरणपर्यन्त [आराहओ] आराधक [हवइ] होता है ।

और भी

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो ।
णिम्महियरायदोसो हवइ आराहओ मरणे ॥19॥
रहता आत्म-स्वभाव में, द्रव्य, संग सुख त्याग ।
राग-द्वेष को जीतता, वह साधक बड़भाग ॥१९॥

अन्वयार्थ : जो [अप्पसहावे णिरओ] आत्म-स्वभाव में तत्पर है, [वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो] जिसने पर-द्रव्य के संसर्ग से होने वाले सुख की अभिलाषा को
छोड़ दिया है और जिसने [णिम्महियरायदोसो] राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, ऐसा पुरुष [मरणे] मरण-पर्यन्त [आराहओ] आराधक [हवइ] होता है ।

विराधना

जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा ।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ ॥20॥
रत्नत्रयमय जीव की, करके जो बहु हानि ।
धरे ध्यान पर-द्रव्य का, उसे विराधक जान ॥२०॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [रयणत्तयमइओ] रत्नत्रय स्वरूप [अप्पणो] अपने [विसुद्धप्पा] विशुद्ध आत्मा को [मुत्तूणं] छोड़कर [परदव्वं] पर-

द्रव्य की [चिंतेइय] चिन्ता करता है, वह [णिच्छयं] निश्चय से [विराहओ] विराधक [भणिओ] कहा गया है ।

आत्म-ज्ञान बिना आराधना नहीं

जो णवि बुज्झइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज ।
तस्स ण बोही भणिया सुसमाही राहणा णेय ॥21॥
जो निज को जाने नहीं, ना जाने पर तत्त्व ।
उसे नहीं आराधना, तथा न बोधि पवित्र ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष [णिच्छयं समासिज्ज] निश्चय नय का आलम्बन कर [अप्पा] आत्मा को [णवि बुज्झइ] नहीं जानता है और [परं] पर को [णवि बुज्झइ] नहीं जानता है [तस्स] उसके [ण बोही भणिया] न बोधि कही गई है, [ण सुसमाही भणिया] न सुसमाधि कही गई है और [णेय आराहणा भणिया] न आराधना ही कही गई है ।

कर्म-नष्ट के लिए सात स्थल

अरिहो संगच्चाओ कसाय2सल्लेहणा य कायव्वा ।
परिसहचमूण विजओ उवसग्गाणं तहा सहणं ॥22॥
इंदियमल्लाण जओ मणगयपसरस्स तह य संजमणं ।
काऊण हणउ खवओ चिरभवबद्धाइ कम्माइं ॥23॥
परिग्रह-त्याग, कषाय-कृश, परिषह-जय है कार्य ।
सहे तथा उपसर्ग सब, आराधक मुनि आर्य ॥२२॥
जीतते इन्द्रिय-मल्ल सब, रोके चित्त प्रसार ।
ऐसा मुनि चिरबद्ध निज, टाले कर्म प्रचार ॥२३॥

अन्वयार्थ : [खवओ] क्षपक [अरिहो] संन्यास धारण करने के योग्य होता हुआ [संगच्चाओ] संगत्याग [कायव्वा कसायसल्लेहणा] करने योग्य कषाय सल्लेखना, [परिसहचमूण विजओ] परिषह रूपी सेना का विजय [तहा उवसग्गाणं सहणं] तथा उपसर्गों का सहन, [इंदियमल्लाण जओ] इन्द्रिय रूपी मल्लों को जीतना [तहय] और [मणगयपसरस्स संजमणं] मन रूपी हाथी के प्रसार का नियन्त्रण [काऊण] करके
[चिरभवबद्धाइ] चिरकाल से अनेक भवों में बँधे हुए [कम्माइं] कर्मों को [हणउ] नष्ट करे ।

अर्ह का लक्षण

छंडियगिहवावारो विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो ।
जीवियधणासमुक्को अरिहो सो होइ सण्णासे ॥24॥
हो विमुक्त सुत, स्वजन से, तजता जो गृह-पाश ।
जीवन, धन, आशा रहित, योग्य उसे संन्यास ॥२४॥

अन्वयार्थ : [छंडियगिहवावारो] जिसने गृह-सम्बन्धी व्यापार छोड़ दिये हैं, [विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो] जिसने पुत्र आदि आत्मीय जनों से सम्बन्ध छोड़ दिया है और [जीवियधणासमुक्को] जो जीवित तथा धन की आशा से मुक्त है [सो] वह [सण्णासे] संन्यास के विषय में [अरिहो] अर्ह (योग्य) [होइ] होता है ।

अर्ह के योग्य कब?

जरवग्घिणी ण चंपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइं ।
बुद्धीजाम ण णासइ आउजलं जाम ण परिगलई ॥25॥
आहारासणणिद्दाविजओ जावत्थि अप्पणो णूणं ।

अप्पाणमप्पणोण य तरइ य णिज्जावओ जाम ॥26॥
जाम ण सिढिलायंति य अंगोवंगाइ संधिबंधाइं ।
जाम ण देहो कंपइ मिच्चुस्स भयेण भीउव्व ॥27॥
जा उज्जमो ण वियलइ संजमतवणाणझाणजोएसु ।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई ॥28॥
जरा-व्याधि आई नहीं, जब तक करण सशक्त ।
जब तक बुद्धि न नष्ट हो, जब तक आयु प्रशस्त ॥२५॥
भोजन, आसन, नींद पर, जब तक निज अधिकार ।
निर्यापक बन आप ही, तिर सकता संसार ॥२६॥
शिथिल न अंगोपांग है, शिथिल न संधि बन्ध ।
मृत्यु-भीत जिनके सदृश, हो न देह में कम्प ॥२७॥
ज्ञान, ध्यान, तप योग में, शिथिल नहीं उद्योग ।
तब तक करना उचित है, शुभाराधना योग्य ॥२८॥

अन्वयार्थ : [जाम] जब तक [जरवग्घिणी] वृद्धावस्था रूपी व्याघ्री [ण चंपइ] आक्रमण नहीं करती, [अक्खाइं] इन्द्रियाँ [वियलाइं] विकल [ण हुंति] नहीं हो जातीं, [जाम बुद्धी ण णासइ] जब तक बुद्धि नष्ट नहीं होती [जाम आउजलं ण परिगलई] जब तक आयु रूपी जल नहीं गलता, [णूणं] निश्चय से [अप्पणो आहारासण णिद्दा णिजओ जावत्थि] जब तक अपने आपके आहार, आसन और निद्रा पर विजय है, [जाम] जब तक [णिज्जावओ अप्पाणमप्पणोण य तरइ य] अपना आत्मा स्वयं निर्यापकाचार्य बनकर अपने आपको नहीं तारता है, [जाम अंगोवंगाइ संधि बंधाइं य ण सिढिलायंति] जब तक अंगोपांग और सन्धियों के बन्धन ढीले नहीं पड़ जाते, [जाम] जब तक [देहो] शरीर [मिच्चुस्स] मृत्यु [भयेण] भय से [भीउव्व] डरे हुए के समान [ण कंपइ] नहीं काँपने लगता है तथा [संजम तवणाणझाणजोएसु] संयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग में [जा उज्जमो ण वियलइ] जब तक उद्यम नष्ट नहीं होता [ताव] तब तक [सो] वह [पुरिसो] पुरुष [उत्तमठाणस्स] उत्तम स्थान संन्यास के [अरिहो] योग्य [संभवई] होता है ।

निश्चय अर्ह

सो सण्णासे उत्तो णिच्छयवाईहिं णिच्छयणएण ।
ससहावे विण्णासो सवणस्स वियप्परहियस्स ॥29॥
निर्विकल्प मुनिराज का, निज स्वभाव विन्यास ।
निश्चयज्ञ परमार्थ से, कहें उसे संन्यास ॥२९॥

अन्वयार्थ : [वियप्परहियस्स] विकल्प रहित जिस [सवणस्स] मुनि को [ससहावे] अपने स्वभाव में [विण्णासे] अवस्थान है [सो] वह [णिच्छयवाईहिं]
निश्चयवादियों के द्वारा [णिच्छयणएण] निश्चय नय से [सण्णासे] संन्यास के विषय में [अरिहो] अर्ह (योग्य) [उत्तो] कहा गया है ॥२९॥

निरालम्ब अवस्था के लिए अन्य क्या?

खित्ताइबाहिराणां अब्भिंतर मिच्छपहुदिगंथाणं ।
चाए काऊण पुणो भावह अप्पा णिरालंबो ॥30॥
अभ्यन्तर संग मोह है, बाह्य क्षेत्र, घर-बार ।
त्याग इन्हें निरलम्ब हो, कर तू आत्म-विचार ॥३०॥

अन्वयार्थ : [खित्ताइबाहिराणां] क्षेत्र आदि बाह्य और [मिच्छपहुदि अब्भिंतरगंथाणं] मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रहों का [चाए] त्याग [काउण] करके [पुणो] पश्चात् [णिरालंबो] निरालम्ब [अप्पा] आत्मा की [भावह] भावना करो ॥३०॥

परिग्रह-त्याग का फल

संगच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो ।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ ॥31॥
संग त्याग से जीव यह, होता परम प्रशान्त ।
उससे आत्मस्वरूप में, होता सुदृढ़ नितान्त ॥३१॥

अन्वयार्थ : [संगच्चाएण] परिग्रह के त्याग से [जीवो] जीव [फुडं] स्पष्ट ही [परमो उपसमो] परम उपशम भाव को [परिणवइ] प्राप्त होता है [दु] और [उपसमगओ] उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव [अप्पसरूवे] आत्म-स्वरूप में [थिरो] स्थिर [हवइ] होता है ।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा

जाम ण गंथंछंडइ ताम ण चित्तस्स मलिणिमा मुंचइ ।
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ ॥32॥
तजे न जब तक संग यह, तब तक मन अपवित्र ।
द्विविध संग के त्याग से, मुनि होता शुचि चित्त ॥३२॥

अन्वयार्थ : [आराहओ] आराधक [जाम] जब तक [गंथं] परिग्रह को [ण छंडइ] नहीं छोड़ता है [ताम] तब तक [चित्तस्य] मन की [मलिणिमा] मलिनता को [ण मुंचइ] नहीं छोड़ता है [खवओ] क्षपक [दुविह परिग्गहचाए] दो प्रकार के परिग्रह के त्याग से ही [णिम्मलचित्तो] निर्मल चित्त [हवइ] होता है ।

क्षपक के अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग

देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाणं विसयअहिलासो ।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे1 हवइ णिग्गंथो ॥33॥
तजे भोग की लालसा, और बाह्य तनु, ग्रन्थ ।
मुनि दोनों के त्याग से, हो यथार्थ निर्ग्रन्थ ॥३३॥

अन्वयार्थ : [देहो बाहिरगंथो] शरीर बाह्य परिग्रह है और [अक्खाणं विसयअहिलासो] इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा होना [अण्णो अत्थि] अन्तरंग परिग्रह है । [तेसिं] उन (दोनों परिग्रहों) का [चाए] त्याग होने पर [खवओ] क्षपक [परमत्थे] परमार्थ से [णग्गंथो] निर्ग्रन्थ [हवइ] होता है ।

इन्द्रिय विषयों का त्याग

इंदियमयं सरीरं णियणियविसएसु तेसु गमणिच्छा ।
ताणुवरिं हयमोहो मंदकसाई हवइ खवओ ॥34॥
निज-निज विषयों में सदा, इन्द्रियमय तन जाय ।
जो इसको है जीतता, वह मुनि मन्द-कषाय ॥३४॥

अन्वयार्थ : [इंदियमयं सरीरं] इन्द्रियों से तन्मय शरीर [तेसु णियणियविसयेसु] अपने-अपने विषयों में [गमनिच्छा] गमनशील है । [ताणुवरिं] उन विषयों के ऊपर [हयमोहो] जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा [खवओ] क्षपक [मंदकसाई] मन्दकषायी [हवइ] होता है ।

कषायों का त्याग

सल्लेहणा सरीरे बाहिरजोएहि जा कया मुणिणा ।
सयलाविसा णिरत्था जाम कसाएण सल्लिहदि ॥35॥
बाह्य योग से साधु जो, करे आप कृशकाय ।

किन्तु व्यर्थ वह है सभी, जब तक रहे कषाय ॥३५॥
अन्वयार्थ : [मुणिणा] मुनि के द्वारा [बाहिरजोएहि] (आतापन आदि) बाह्य योगों के द्वारा [सरीरे जा सल्लेखना कया] शरीर की जो सल्लेखना की गई है [सा सयलावि] वह सबकी सब [ताव] तब तक [निरत्था] निरर्थक है [जाम] जब तक वह [कसाए न सल्लिहदि] कषायों की सल्लेखना नहीं करता ।

कषाय का स्वरूप

अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहि तिहुवणं सयलं ।
भमइ भमडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे ॥36॥
त्रिभुवन में दुर्जय विकट, ये कषाय बलवान ।
इससे फिरता जीव नित, चतुर्गति विश्व महान ॥३६॥
अन्वयार्थ : वे [कसाया] कषाय [बलिया] अत्यन्त बलवान और [सुदुज्जया] अत्यन्त कठिनाई से जीतने योग्य [अत्थि] हैं [जेहि] जिनके द्वारा [भमडिज्जंतो] घुमाया हुआ [सयलं तिहुवणं] समस्त त्रिभुवन [भीमे चउगइभवसायरे] भयंकर चतुर्गति रूप संसार-सागर में [भमइ] भ्रमण कर रहा है ।

कषाय रहित ही संयमी

जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ ।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा ॥37॥
हो न कषायी संयमी, इससे हनो कषाय ।
संयम बिन गुण अन्य भी, हों न शुद्ध सुखदाय ॥३७॥
अन्वयार्थ : [कसाई] कषाय से सहित [स] वह क्षपक [जाम] जब तक [कसाए ण हणइ] कषायों को नष्ट नहीं करता है [ताव] तब तक वह [संजमी] संयमी [णेव होइ] नहीं होता है और [संजमरहियस्स] संयम से रहित क्षपक के [सव्वे गुणा] समस्त गुण [विशुद्धियरा] विशुद्धि को करने वाले [ण हुंति] नहीं होते ।

क्षय रहित ही ध्यान योग्य

तम्हा णाणीहिं सया किसियरणं हवइ तेसु कायव्वं ।
किसिएसु कसाएसु अ सवणो झाणे थिरो हवइ ॥38॥
इससे ज्ञानी सर्वदा, करें कषायें क्षीण ।
होते मन्द कषाय जब, हो मुनि निज में लीन ॥३८॥
अन्वयार्थ : [तम्हा] इसलिए [णाणीहिं] ज्ञानी जीवों के द्वारा [तेसु] उन कषायों के विषय में [सया] सदा [किसियरणं] कृशीकरण (क्षीणीकरण) [कायव्वं] करने योग्य [हवइ] है, क्योंकि [कसाएसु य] कषायों के [किसिएसु] कृश किये जाने पर [सवणो] मुनि [झाणे] ध्यान में [थिरो] स्थिर [हवइ] होता है ।

कषाय रहित क्षोभ-रहित होता हुआ ध्यानस्थ

सल्लेहिया कसाया करंति मुणिणो ण चित्तसंखोहं ।
चित्तक्खोहेण विणा पडिवज्जदि उत्तमं धम्मं ॥39॥
मन्द-कषायी साधु का, क्षुब्ध न होता चित्त ।
नष्ट क्षोभ उस जीव के, प्रकटे धर्म पवित्र ॥३९॥
अन्वयार्थ : [सल्लेहिया] छोड़ी हुई [कसाया] कषायें [मुणिणो] मुनि के [चित्तसंखोहं] चित्त में क्षोभ [ण करंति] नहीं करती हैं और [चित्तक्खोहेण विणा] चित्त क्षोभ में नहीं होने से मुनि [उत्तमं धम्मं] उत्तम धर्म को [पडिवज्जदि] प्राप्त होता है ।

ज्ञान द्वारा परिषह पर विजय

सीयाई बावीसं परिसहसुहडा हवंति णायव्वा ।

जेयव्वा ते मुणिणा वरउवसमणाणखग्गेण ॥40॥

शीतादिक बाईस ये, विकट परीषह धार ।

उन्हें जीतता साधुवर, ले उपशम तलवार ॥४०॥

अन्वयार्थ : [सीयाई] शीत आदि [बावीसं] बाईस [परिसहसुहडा] परीषहरूपी सुभट [णायव्वा] जानने योग्य [हवंति] हैं, [मुणिणा] मुनि के द्वारा [ते] वे परिषह रूपी सुभट [वरउपसमणाणखग्गेण] उत्कृष्ट उपशमभाव रूपी ज्ञान खड़ग से [जेयव्वा] जीतने योग्य हैं ।

परिषह से पराजित

परिसहसुहडेहिं जिया केई सण्णासओहवे भग्गा ।

सरणं पइसंति पुणो सरीरपडियारसुक्खस्स ॥41॥

विकट परीषह से विजित, तज बैठे संन्यास ।

फिर निज, देह सुखार्थ ही, करे सदन में वास ॥४१॥

अन्वयार्थ : [सण्णासओहवे] संन्यास रूपी युद्ध में [परीसहसुहडेहिं] परीषह रूपी सुभटों के द्वारा [जिया] पराजित [केई] कितने ही लोग [भग्गा] भागकर [पुणो] फिर से [सरीरपडियारसुक्खस्स] शरीर के प्रतीकार - भोजन-वस्त्रादि विषय सुख की [सरणं] शरण में [पइसंति] प्रवेश करते हैं ।

परिषह को जीतने का उपाय

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाई परवसेण संसारे ।

इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा ॥42॥

परवश इस संसार में, भोगे कष्ट अपार ।

स्ववश सही तु इस समय, निज में मन को धार ॥४२॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तूने [परवसेण] पराधीन हो [संसारे] संसार में [अणेयाइं] अनेक [दुक्खाइं] दुःख [सहियाई] सहन किये [इण्हं] अब [अप्पसहावे] आत्म-स्वभाव में [मणो किच्चा] मन लगाकर [सवसो] स्वाधीनता पूर्वक [विसहसु] सहन कर ।

तीव्र वेदना में मध्यस्थ भावना

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा ।

जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ॥43॥

कीजे उपशम भावना, देख परीषह कष्ट ।

होगा क्षणभर में सभी, अशुभोदय तब नष्ट ॥४३॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! [अइतिव्ववेयणाए] अत्यन्त तीव्र वेदना से [अक्कंतो] आक्रान्त हुआ तू [जइ] यदि [सुसमा भावणा] मध्यस्थ भावना [कुणसि] करता है [तो] तो तू [खणद्धेण] आधे क्षण में [सव्वं] समस्त [असुहं] अशुभ [कम्मं] कर्म को [णिहणसि] नष्ट कर सकता है ।

चारित्र छोड़ने का फल

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूी ।

भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ॥44॥

दुख-सुभटों से भीत हो, जो तजते संन्यास ।

होता दुख का धाम वह, हो जग में उपहास ॥४४॥

अन्वयार्थ : [परिसहभडाण] परीषह रूपी सुभटों से [भीया] डरे हुए जो [पुरिसा] पुरुष [चरणरणभूी] चारित्र रूपी रणभूमि को [छंडंति] छोड़ देते हैं [ते] वे [भुवि] इस लोक में [उवहासं पविया] उपहास को प्राप्त होते हैं और परलोक में [दुक्खाणं णिलया] दुःखों के स्थान [हुंति] होते हैं ।

तीन गुप्ति द्वारा मन पर नियंत्रण

परिसहपरचक्कभिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं ।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं ॥45॥
देख परीषह सैन्य को, कर तू गुप्ति प्रवेश ।
निज स्वभाव में स्थान कर, मन-सर मुक्ति निवेश ॥४५॥

अन्वयार्थ : हे क्षपक ! [जइ] यदि तू [परिसहपरचक्कभिओ] परीषह रूपी परचक्र - शत्रु सेना से भीत है [तो] तो [गुत्तितयगुत्तिं] तीन गुप्ति रूपी दुर्ग में [पइसेहि] प्रवेश कर [ससहावे] अपने स्वभाव में [ठाणं कुण] स्थान कर और [मणवाणं] मन रूपी बाण को [मोक्खगयं] मोक्षगत [कुणसु] कर ।

ज्ञान रूपी सरोवर में प्रवेश

परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो ।
ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो ॥46॥
ज्ञान-सरोवर मग्न यदि, टले परीषह ताप ।
स्व-स्वभाव-जल सिक्त चित, पाता शिव, हर पाप ॥४६॥

अन्वयार्थ : [परिसहदवग्गितत्तो] परीषह रूपी अग्नि से संतप्त [जीवो] जीव [जइ] यदि [णाणसरवरे] ज्ञान रूपी सरोवर में [पइसइ] प्रवेश करता है तो [ससहावजलपसित्तो] स्वभाव रूपी जल से सींचा जाकर [अवियप्पो] निर्विकल्प होता हुआ [णिव्वाणं] मोक्ष को [लहइ] प्राप्त होता है ।

उपसर्ग के समय समता

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दुहजणया ।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥47॥
कर्मोदय वश साधु को, आये यदि अति कष्ट ।
समता धरता ज्ञान से, हो न किन्तु पर इष्ट ॥४७॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [कहवि] किसी प्रकार [जइणो] मुनि के [दुहजणया] दुःख को उत्पन्न करने वाले [बहुविहा] नाना प्रकार के [उपसग्गा] उपसर्ग [हु] निश्चय से [हुंति] होते हैं तो [समभावणणाणचित्तेण] चित्त में समताभाव को धारण करने वाले मुनि के द्वारा [ते] वे परिषह [णूणं] निश्चय से [सहियव्वा] सहन करने योग्य हैं ।

ज्ञानमय भावना से उपसर्ग जीते जाते हैं

णाणमयभावणाए भवियचित्तेहिं पुरिससीहेहिं ।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया ॥48॥
ज्ञान भावना युक्त नर, सहे महा उपसर्ग ।
उपसर्गों के जानिये, अचेतनादि चतु वर्ग ॥४८॥

अन्वयार्थ : [णाणमयभावणाए] ज्ञान के द्वारा रचित भावना से [भावियचित्तेहिं] वासित चित्त वाले [पुरिससीहेहिं] श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा [अचेयणादीय] अचेतन आदिक [चउभेया] चार प्रकार के [महोवसग्गा] बड़े-बड़े उपसर्ग [सहिया] सहन किये गये हैं ।

अचेतन कृत उपसर्ग सहन

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु चेयणारहिओ ।
सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥49॥
सहे साधु शिवभूति ने, जड़ कृत सब ही क्लेश ।
कौशल श्री सुकुमाल ने, पशु कृत दुःख अशेष ॥४९॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [सिवभूइणा] शिवभूति मुनि के द्वारा [चेयणारहिओ] अचेतनकृत [महोवसग्गो] महान उपसर्ग [विसहिओ] सहन किया गया है [य] और [सुकुमालकोसलेहि] सुकुमाल तथा सुकौशल मुनियों के द्वारा [तिरियंचकओ] तिर्यंचों के द्वारा किया हुआ [महाभीमो] महान भयंकर महोपसर्ग सहन किया गया है ।

मनुष्यकृत उपसर्ग सहन

गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं ।
माणुसकउ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं ॥50॥
पांडव, श्री गुरुदत्त मुनि, गजकुमार सुकुमार ।
सहा इन्होंने मनुजकृत, दुख उपसर्ग अपार ॥५०॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [गुरुदत्तपंडवेहिं] गुरुदत्त तथा पाण्डवों ने [गयवरकुमरेहिं] गजवर कुमार ने [तह य] और [अवरेहिं] अन्य [महाणुभावेहिं] महानुभावों ने [माणुसकउ] मनुष्यकृत [उवसग्गो] उपसर्ग [सहिओ] सहन किया है ।

देव-उपसर्ग सहन के उदाहरण

अमरकओ उवसग्गो सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं ।
समभावणाए सहिओ अप्पाणं झायमाणेहिं ॥51॥
कनकभद्र, श्री दत्त को, हुआ अमर-कृत कष्ट ।
समता से सहते हुए, किया ध्यान सुविशिष्ट ॥५१॥

अन्वयार्थ : [अप्पाणं] आत्मा का [झायमाणेहिं] ध्यान करते हुए [सिरदित्तसुवण्णभद्दआईहिं] श्रीदत्त तथा सुवर्णभद्र आदि मुनियों ने [समभावणाए] समभावना से [अमरकओ] देवकृत, [उवसग्गो] उपसर्ग [सहिओ] सहन किया है ।

उपसर्ग सहन की शिक्षा

एएहिं अवरेहिं य जहं सहिया थिरमणेहिं उवसग्गा ।
विसहसु तुंपि मुणिवर अप्पसहावे मणं काऊ ॥52॥
इनने त्यों ही अन्य ने, सहा हृदय-दृढ़ त्रास ।
त्यों मुनिवर ! तुम भी सहो, धर चेतन विश्वास ॥५२॥

अन्वयार्थ : [मुणिवर] हे मुनि श्रेष्ठ ! [थिरमणेहिं] स्थिर चित्त के धारक [एएहिं] इन सुकुमाल आदि ने [य] और [अवरेहिं] अन्य संजयन्त आदि मुनियों ने [जहं] जिस प्रकार [उवसग्गा] उपसर्ग [सहिया] सहन किये हैं [तहं] उसी प्रकार [तुंपि] तुम भी [अप्पसहावे] आत्मस्वभाव में [मणं काऊ] मन लगाकर [विसहसु] सहन करो ।

विषय-लोलुपता

इंदियवाहेहिं हया सरपीडापीडियंगचलचित्ता ।
कत्थवि ण कुणंति रई विसयवणं जंति जणहरिणा ॥53॥
करण-पारधी से व्यथित, शर-पीड़ा चल चित्त ।

करे प्रेम नहिं नर-हिरण, दौड़ा करे विचित्र ॥५३॥
अन्वयार्थ : [इंदियवाहेहिं] इन्द्रिय रूपी शिकारियों के द्वारा [हया] ताड़ित तथा [सरपीडापीडियंगचलचित्ता] कामरूपी बाण की पीड़ा से पीड़ित शरीर होने के कारण चंचल चित्त [जणहरिणा] मनुष्यरूपी हरिण [कत्थवि] कहीं भी [रई] प्रीति [ण कुणंति] नहीं करते हैं और [विसयवणं] विषयरूपी वन की ओर [जंति] जाते हैं ।

विषयाभिलाषी के सभी प्रयास व्यर्थ

सव्वं चायं काऊ विसए अहिलससि गहियसण्णासे ।
जइ तो सव्वं अहलं दंसण णाणं तवं कुणसि ॥54॥
सर्व त्याग संन्यास ले, यदि विषयों में आश ।
तो दर्शन, चारित्र में, तेरा व्यर्थ प्रयास ॥५४॥
अन्वयार्थ : [सव्वं चायं काऊ] सर्व त्याग कर [गहियसण्णासे] संन्यास के ग्रहण करने पर भी [जइ] यदि तू [विसए अहिलससि] विषयों की अभिलाषा करता है [तो] तो [सव्वं] समस्त [दंसण णाणं तवं] दर्शन, ज्ञान और तप को [अहलं] निष्फल [कुणसि] करता है ।

मन-स्थित विषयाभिलाषा

इंदियविसयवियारा जाम2 ण तुट्टंति मणगया खवओ ।
ताव ण सक्कइ काउं परिहारो णिहिलदोसाणं ॥55॥
टले न जौं लौ हृदय-गत, इन्द्रिय विषय विकार ।
तब तक कर सकता न मुनि, सकल दोष परिहार ॥५५॥
अन्वयार्थ : [मणगया] मन में स्थित [इंदियविसयवियारा] इन्द्रिय विषय सम्बन्धी विकार [जाम] जब तक [ण तुट्टंति] नहीं टूटते हैं - नष्ट नहीं होते हैं [ताव] तब तक [खवओ] क्षपक [णिहिलदोसाणं] समस्त दोषों का [परिहारो] त्याग [काउं ण सक्कइ] नहीं कर सकता ।

इन्द्रिय-सुख में मग्नता

इंदियमल्लेहिं जिया अमरासुरणरवराण संघाया ।
सरणं विसयाण गया तत्थवि मण्णंति सुक्खाइ ॥56॥
अमर, असुर, नरवर सभी, प्रकट इन्द्रियाधीन ।
विषयों का आधार ले, रहें उसी में लीन ॥५६॥
अन्वयार्थ : [इंदियमल्लेहिं] इन्द्रिय रूपी सुभटों के द्वारा [जिया] पराजित [अमरासुरणरवराण] देव, धरणेन्द्र और श्रेष्ठ मनुष्यों के [संघाया] समूह [विसयाण] विषयों की [सरणं] शरण को [गया] प्राप्त होते हैं तथा [तत्थपि] उन्हीं में [सुक्खाइ] सुख [मण्णंति] मानते हैं ।

इन्द्रिय-सुख सुख नहीं

इंदियगयं ण सुक्खं परदव्वसमागमे हवे जम्हा ।
तम्हा इंदियविरई सुणाणिणो होइ कायव्वा ॥57॥
अक्षज सुख, सुख ही नहीं, पर से तद् उत्पत्ति ।
इसीलिए विद्वान् गण, करते अक्ष विरक्ति ॥५७॥
अन्वयार्थ : हे क्षपक ! [इंदियगयं] इन्द्रियों से होने वाला [सुक्खं] सुख [सुक्खं ण] सुख नहीं है [जम्हा] क्योंकि वह [परदव्वसमागमे] पर द्रव्य के संयोग से होता है [तम्हा] इसलिए [सुणाणिणो] सम्यग्ज्ञानी जीव को [इंदियविरई] इन्द्रिय विषयों से विरक्ति [कायव्वा होइ] करने योग्य है ।

मन पर नियंत्रण द्वारा इन्द्रिय संयम

इंदियसेणा पसरइ मणणरवइपेरिया ण संदेहो ।
तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥58॥
पाकर मन-नृप प्रेरणा, करण-सैन्य विस्तार ।
मन संयम इससे करे, मुनिजन बारम्बार ॥५८॥
अन्वयार्थ : [जम्हा] क्योंकि [मणणरवइपेरिया] मन रूपी राजा के द्वारा प्रेरित [इंदियसेना] इन्द्रिय रूपी सेना [पसरइ] फैल रही है [ण संदेहो] इसमें संदेह नहीं है [तम्हा] इसलिए [खवयेण य] क्षपक को [मणसंजमणं] मन का नियन्त्रण [कायव्वं] करने योग्य [हवदि] है ।

मन रुपी राजा

मणणरवइ सुहुभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं ।
णिमिसेणेक्केण जयं तस्सत्थि ण पडिभडो कोइ ॥59॥
मन नरपति है भोगता, क्षण में सुर सुख ठौर ।
इससे जगती में कहीं, मन-सम सुभट न और ॥५९॥
अन्वयार्थ : [मणणरवइ] मन रूपी राजा [अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं] देव, दैत्य, विद्याधर और राजा आदि से सहित [जयं] जगत् को [णिमिसेणेक्केण] एक निमेष मात्र में [सुहुभुंजइ] अपने भोग के योग्य कर लेता है [तस्स] उस मन का [पडिभडो] प्रतिमल्ल [कोई ण अत्थि] कोई भी नहीं है ।

मन के मरण द्वारा ही संयम

मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइ ।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइ ॥60॥
तेसिं मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं ।
इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणइ ॥61॥
मन भूपति के मरण से, मरे अक्ष परिवार ।
उनके मरते ही तुरत, टले कर्म का भार ॥६०॥
कर्म नाश से मोक्ष हो, वहाँ सौख्य हो नित्य ।
इससे मन को मारिये, होकर अक्ष विरक्त ॥६१॥
अन्वयार्थ : [मणणरवइणो] मन रूपी राजा का [मरणे] मरण होने पर [इंदियमयाइ] इन्द्रिय रूप [सेणाइं] सेनाएँ [मरंति] मर जाती हैं [ताणं] उनके [मरणेण]मरण के [पुणो] पश्चात् [णिस्सेसकम्माणि] समस्त कर्म [मरंति] मर जाते हैं - नष्ट हो जाते हैं [तेसिं] कर्मों का [मरणे] मरण होने पर [मुक्खो] मोक्ष होता है और [मुक्खे] मोक्ष में [इंदिय विसयविमुक्कं] इन्द्रियों के विषयों से रहित [सासयं] शाश्वत नित्य [सुक्ख] सुख [पावेइ] प्राप्त होता है [तम्हा] इसलिए [मणमारणं] मन का मरण [कुणइ] करो ।

मन का निवारण नहीं तो क्या गति?

मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो ।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥62॥
ज्ञान-रज्जु से मन-करम, किया न जिसने बद्ध ।
फिरता वह संसार में, दुःखों से हो विद्ध ॥६२॥
अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [जेहिं] जिन पुरुषों के द्वारा [धावंतो] दौड़ता हुआ [मणकरहो] मन रूपी ऊँट [णाणवरत्ताइ] ज्ञान रूपी मजबूत रस्सी के द्वारा [ण बद्धो] नहीं बाँधा गया है [ते पुरिसा] वे पुरुष [संसारे] संसार में [दुहाइं] दुःख [भुंजंता] भोगते हुए [हिंडंति] परिभ्रमण करते हैं ।

उदाहरण

पिच्छह णरयं पत्तो मणकयदोसेहिं सालिसित्थक्खो ।
इय जाणिऊण मुणिणा मणरोही हवइ कायव्वो ॥63॥
शालिसिक्थ मन दोष से, पाता नरक, विलोक ।
मुनिवर, यह सब जानकर, चंचल मन को रोक ॥६३॥

अन्वयार्थ : [पिच्छह] देखो [मणकयदोसेहिं] मन से किये हुए दोषों के कारण [सालिसित्थक्खो] शालिसिक्थ नाम का मत्स्य [णरयं पत्तो] सप्तम नरक को प्राप्त हुआ था । [इय जाणिऊण] ऐसा जान कर [मुणिणा] मुनि के द्वारा [मणरोही] मन का निरोध [कायव्वो] करने योग्य [हवइ] है ।

मन को वश में करने का उपदेश

सिक्खह मणवसियरणं सवसीहूएण जेण मणुआणं ।
णासंति रायदोसे तेसिं णासे समो परमो ॥64॥
उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ णिग्गहं काउं ।
णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥65॥
मनोविजय से मनुज के, राग-द्वेष हों नाश ।
उन दोनों के नाश से, प्रकटे सम अविनाश ॥६४॥
समता वाले जीव का, मन होता है स्वस्थ ।
मन स्थिरत्व से, शीघ्र ही, बने जीव आत्मस्थ ॥६५॥

अन्वयार्थ : अहो मुनिजन हो ! [मणवसियरणं सिक्खह] मन को वश करना सीखो [जेण सवसीहूएण] उसके वशीभूत होने पर [मणुआणं] मनुष्यों के [रायदोसे] राग द्वेष [णासंति] नष्ट हो जाते हैं [तेसिं णासे] उन राग-द्वेषों का नाश होने पर [परमो समो] परम उपशम भाव प्राप्त होता है [उपसमवंतो जीवो] उपशम भाव से युक्त जीव [मणस्स] मन का [णिग्गहं काउं] निग्रह करने के लिए [सक्केइ] समर्थ होता है और [मणपसरे णिग्गहिए] मन का प्रसार रुक जाने पर [अप्पा] आत्मा [परमप्पओ] परमात्मा [हवइ] हो जाता है ।

मन विस्तार का अभाव

जहं जहं विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज ।
तहं तहं मणस्स पसरो भज्जइ आलंबणारहियो ॥66॥
ज्ञानालम्बन से घटे, विषयों का रति भाव ।
त्यों-त्यों होता शीघ्र ही, मन विस्तार अभाव ॥६६॥

अन्वयार्थ : [णाणमासिज्ज] ज्ञान को प्राप्त कर [पुरिसस्स रई] पुरुष की रति [जहं जहं] जिस-जिस प्रकार [विसऐसु] विषयों में [पसमइ] शान्त हो जाती है [तहं तहं] उसीप्रकार [आलंबणारहिओ] आलम्बन से रहित [मणस्स पसरो] मन का प्रसार [भज्जइ] भग्न हो जाता है ।

और भी

विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो ।
कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥67॥
विषय-हीन हो जब हृदय, प्रकटे सम्यग्ज्ञान ।
आत्म-रूप शिव सौख्य में, तब हो रक्त महान ॥६७॥

अन्वयार्थ : जब वह मन [विसयालंबणरहिओ] विषयों के आलम्बन से रहित होता हुआ [णाणसहावेण] ज्ञानस्वभाव से [भाविओ संतो] भावित होता है - ज्ञान स्वभाव में लीन होता है [तक्काले] तब [अप्पसहावे] आत्मा के स्वभावभूत [मोक्खसुक्खे] मोक्ष के सुख में [कीलइ] क्रीड़ा करता है ।

मन-वृक्ष का छेद

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे ।
अहलो करेह पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण ॥68॥
काट, तोड़ तू चित्त-तरु, राग-द्वेष दो डाल ।
मोह-सलिल सींचो नहीं, विफल करो इस काल ॥६८॥

अन्वयार्थ : [मणवच्छो] मन रूपी वृक्ष को [णिल्लूरह] छेद डालो [जे राय दोसा साहाउ खंडह] उसकी जो राग-द्वेष रूपी दो शाखाएँ हैं, उन्हें खण्डित कर दो [अहलो करेह] फल रहित कर दो और [मोहसलिलेण] मोह रूपी जल से उसे [पच्छा] फिर [मा सिंचह] मत सींचो ।

मन द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥69॥
विषय न माँगे इन्द्रियें, क्षय हो जाता चित्त ।
नष्ट हुए तरु मूल के, लगे न उसके पत्र ॥६९॥

अन्वयार्थ : [मणवावारे] मन का व्यापार [णट्ठे] नष्ट हो जाने पर [सव्वे इंदिया] समस्त इन्द्रियाँ [विसएसु] विषयों में [ण जंति] नहीं जाती हैं, क्योंकि [तरुस्स] वृक्ष की [मूले] जड़ [छिण्णे] कट जाने पर [पुण] फिर [पल्लवा] पत्ते [कत्तो] कहाँ से [हुंति] हो सकते हैं?

मन की उत्पत्ति और नष्ट होने का फल

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य वे गुणा हुंति ।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबंधो य ॥70॥
क्षय, जीवित उस चित्त के, दो गुण हों उत्पन्न ।
एक कर्म आस्रव रुके, द्वितीय कर्म का बन्ध ॥७०॥

अन्वयार्थ : [मणमित्ते] मनोमात्र [वावारे] व्यापार के [णट्ठुप्पण्णे य] नष्ट तथा उत्पन्न होने पर [वे गुणा हुंति] दो गुण - दो कार्य होते हैं । [णट्ठे] नष्ट होने पर [आसवरोहो] आस्रव का निरोध - संवर [य] और [उप्पण्णे] उत्पन्न होने पर [कम्मबंधो] कर्मबन्ध होता है ।

शून्य मन द्वारा ही कर्म नष्ट

परिहरिय रायदोसे सुण्णं काऊण णियमणं सहसा ।
अत्थइ जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइं ॥71॥
राग-द्वेष को त्याग कर, कर निज मन को शून्य ।
तब तक ऐसे हो रहो, कर्म न जब तक क्षीण ॥७१॥

अन्वयार्थ : [जाव कालं] जब तक यह जीव [रायदोसे] राग और द्वेष को छोड़ कर [सहसा] शीघ्र ही [णियमणं] अपने मन को [सुण्णं] शून्य [काऊण] करके [ण अत्थइ] स्थित नहीं होता [ताव] तब तक [कम्माइं] कर्मों को [ण णिहणेइ] नष्ट नहीं करता ।

स्व-संवेदन ज्ञान की प्रधानता

तणुवयणरोहणेहिं रुज्झंति ण आसवा सकम्माणं ।
जाव ण णिप्फंदकओ समणो मुणिणा सणाणेण ॥72॥

हो न चित्त निष्पन्द निज, पा जड़-चेतन बोध ।
तनु वाणी के रोध से, हो न कर्म का रोध ॥७२॥

अन्वयार्थ : [जाव] जब तक [समणो] अपना मन [मुणिणा] मुनि के द्वारा [सणाणेण] स्वसंवेदन ज्ञान से [ण णिप्फंदकओ] निश्चल नहीं कर लिया जाता [ताव] तब तक [तणुवयणरोहणेहिं] काय और वचन योग के रोकने मात्र से [सकम्माणं] आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अथवा अपने-अपने निमित्त से बँधने वाले कर्मों के [आसवा] आस्रव [ण रुज्झंति] नहीं रुकते हैं ।

मन-प्रसार नष्ट होने का फल

खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे ।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ॥73॥
दोनों आस्रव दूर जब, क्षय हो मन व्यापार ।
कर्म पुरातन छूटते, प्रकटे ज्ञान अपार ॥७३॥

अन्वयार्थ : [मणसंचारे] मन का संचार [खीणे] क्षीण होने [तह] तथा [दुवियप्पे] शुभ-अशुभ अथवा द्रव्य और भाव के दो भेद से दो प्रकार का आस्रव [तुट्टे] टूट जाने पर [पुराणं कम्मं] पूर्वबद्ध कर्म [गलइ] नष्ट हो जाता है और [केवलणाणं] केवल ज्ञान [पयासेइ] प्रकट हो जाता है ।

मन-शून्य होने की शिक्षा

जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो झत्ति ।
सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ॥74॥
चाहो यदि तुम कर्म क्षय, धरो शून्य में चित्त ।
शून्य चित्त में वेग से, प्रकटे आत्म पवित्र ॥७४॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि तू [कम्मखयं] कर्मों का क्षय [इच्छहि] चाहता है तो [णियमणो] अपने मन को [झत्ति] शीघ्र ही [सुण्णं] शून्य [धारेहि] धारण कर [चित्ते सुण्णीकयम्मि] मन के शून्य कर लेने पर [णूणं] निश्चित ही [अप्पा] आत्मा [पयासेइ] प्रकट हो जाता है ।

विषय-विमुख होने की प्रेरणा

उव्वासहि णियचित्तं वसहि सहावे सुणिम्मले गंतुं ।
जइ तो पिच्छसि अप्पा सण्णाणो केवलो सुद्धो ॥75॥
लगा न विषयों में हृदय, कर स्वभाव में वास ।
तो तू देखेगा स्वयं, केवलज्ञान प्रकाश ॥७५॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि तू [णियचित्तं] अपने मन को [उव्वासहि] विषयों से विमुखता को प्राप्त कराता है और [गंतु] परमात्मा को जानने के लिए [सुणिम्मले] अत्यन्त निर्मल [सहावे] समीचीन भाव से युक्त परमात्मा में [वसहि] निवास करता है [तो] तो [सण्णाणो] सम्यग्ज्ञान से तन्मय [केवलो] पर पदार्थों से असंपृक्त तथा [सुद्धो] समस्त उपाधियों से रहित [अप्पा] आत्मा को [पिच्छसि] देख सकता है ।

स्वभाव से शून्य नहीं

तणुणवयणे सुण्णो ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे ।
ससहावे जो सुण्णो हवइ यसो गयणकुसुणिहो ॥76॥
तन, मन, वच से शून्य नर, नहिं स्वभाव से शून्य ।
गगन-कुसुम सम वह सभी, जो स्वभाव से शून्य ॥७६॥

अन्वयार्थ : क्षपक [तणुणवयणे] शरीर, मन और वचन के विषय में तो [सुण्णो] शून्य होता है, परन्तु [अप्पसुद्धसब्भावे] आत्मा के शुद्ध अस्तित्व में [ण य सुण्णो] शून्य नहीं होता । [जो] जो [ससहावे] स्वकीय आत्मा के सद्भाव में [सुण्णो] शून्य [हवइ] होता है [यसो] वह

[गयणकुसुणिहो] आकाश के फूल के समान [हवइ] होता है ।

शून्य-ध्यानी की अवस्था

सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो ।
परमाणंदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवइ ॥77॥
निर्विकल्प योगी निजी, भोगे सुख गुण युक्त ।
परमानन्द प्रसक्त वह, भरित कलश-सम तृप्त ॥७७॥

अन्वयार्थ : [सुण्णज्झाणपइट्ठो] शून्य - निर्विकल्पध्यान में प्रविष्ट, [ससहावसुक्खसंपण्णो] आत्म-सद्भाव के सुख से संपन्न और [परमाणंदे] उत्कृष्ट आनन्द में [थक्को] स्थित [जोई] जोगी [फुडं] स्पष्ट ही [भरियावत्थो] पूर्ण कलश के समान भृतावस्थ - अविनाशीक आत्मानन्द रूपी सुधा से संभृत [हवइ] होता है ।

शून्य-ध्यान का लक्षण

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि ।
ण य धारणावियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥78॥
ध्यान, ध्येय, ध्याता नहीं, जहाँ न और विकल्प ।
चिन्ता तथा न धारणा, वही ध्यान अविकल्प ॥७८॥

अन्वयार्थ : [जत्थ] जिसमें [ण झाणं झेयं झायारो] न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है अर्थात् जो इन तीनों के विकल्प से रहित है, जिसमें [किंपि चिंतणं णेव] किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है [य] और [ण धारणावियप्पो] न जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वारुणी धारणाओं का विकल्प है अथवा जिसमें धारणा - कालान्तर में किसी तत्त्व को विस्मृत न होना तथा विकल्प - असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प नहीं है [तं] उसे [सुट्ठु] अच्छी तरह [सुण्णं] शून्य ध्यान [भाविज्ज] समझो ।

शुद्ध-भाव

जो खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता ।
तं चेव हवदि णाणं दंसणचारित्तयं चेव ॥79॥
शुद्ध भाव मय जीव जो, उसे चेतना जान ।
वही चेतना सर्वथा, दर्शन-ज्ञान प्रमाण ॥७९॥

अन्वयार्थ : [खलु] निश्चय से [जो सुद्धो भावो] शुद्धभाव है [सो जीवो] वह जीव है, [सा चेयणावि उत्ता] वही चेतना कही गई है [तं चेव णाणं हवदि] वही ज्ञान है और वही [दंसणचारित्तयं चेव] दर्शन तथा चारित्र है ।

शुद्ध-भाव ही रत्नत्रय

दंसणणाणचरित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा ।
जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण ॥80॥
दर्शन, ज्ञान, चरित्र में, निश्चय से एकत्व ।
शुद्ध-चेतना भाव ही, रत्नत्रयी पवित्र ॥८०॥

अन्वयार्थ : [णिच्छयवाएण] निश्चय की अपेक्षा [हु] वास्तव में [दंसणणाणचरित्ता] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [भिण्णा ण हुंति] भिन्न नहीं हैं । [खलु] निश्चय से [जो सुद्धो भावो] जो शुद्धभाव है [तमेव] उसे ही [रयणत्तयं] रत्नत्रय [जाण] जानो ।

आत्मा शून्य एक अपेक्षा से

तत्तियमओ हु अप्पा अवसेसालंबणेहि परिमुक्को ।

उत्तो स तेण सुण्णो णाणीहि ण सव्वहा सुण्णो ॥81॥
तत् त्रिक मय है आत्मा, सकल विभाव वियुक्त ।
इससे शून्य कहा इसे, नहिं अभावता युक्त ॥८१॥
अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [तत्तियमओ] रत्नत्रय से तन्मय आत्मा [अवसेसालंबणेहिं] राग-द्वेषादि समस्त आलम्बनों से रहित है [तेण] उस कारण [णाणीहि] ज्ञानी जनों के द्वारा [स] वह [सुण्णो] शून्य [उत्तो] कहा गया है [सव्वहा] सब प्रकार से [सुण्णो ण] शून्य नहीं है ।

चैतन्य स्वाभावि आत्मा ही मोक्ष-मार्ग

एवंगुणो हु अप्पा जो सो भणिओ हु मोक्खमग्गोत्ति ।
अहवा स एव मोक्खो असेसकम्मक्खए हवइ ॥82॥
गुण स्वरूप मय जीव को, मोक्षमार्ग तू जान ।
सर्व कर्म क्षय से मिले, अति पुनीत निर्वाण ॥८२॥
अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [एवंगुणो] इसप्रकार के गुणों से युक्त [जो अप्पा] जो आत्मा है [सो हु] वही [मोक्खमग्गोत्ति] मोक्षमार्ग इस शब्द से [भणिओ] कहा गया है । [अहवा] अथवा [असेसकम्मक्खए] समस्त कर्मों का क्षय होने पर [स एव] वही आत्मा [मोक्खो] मोक्ष [हवइ] होता है ।

कर्तृत्व भाव शून्य का विरोधी

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाणजुत्तस्स ।
ताम ण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥83॥
ध्यान युक्त मुनि को रहे, जब तक लेश विकल्प ।
वह है चिन्ता भावना, नहीं ध्यान अविकल्प ॥८३॥
अन्वयार्थ : [झाणजुत्तस्स] ध्यान से युक्त [जोइस्स] मुनि के [जाम] जब तक [कोई वियप्पो] कोई विकल्प [जायइ] उत्पन्न होता है [ताम] तब तक [सुण्णं] शून्य - निर्विकल्प [झाणं] ध्यान [ण] नहीं होता? किन्तु [चिन्ता वा] चिन्ता [अहवा] अथवा [भावणा] भावना होती है ।

निर्विकल्प ध्यान से सिद्धि

लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पाअणलो पयासेइ ॥84॥
चित्त ध्यान में लीन हो, जल में लवण-समान ।
जलें शुभाशुभ कर्म सब, है चिद्वह्नि महान ॥८४॥
अन्वयार्थ : [सलिलजोए] पानी के योग में [लवणव्व] नमक के समान [जस्स] जिसका [चित्तं] चित्त [झाणे] ध्यान में [विलीयए] विलीन हो जाता है [तस्स] उस मुनि के [सुहासुहडहणो] शुभ-अशुभ कर्मों को जलाने वाली [अप्पाअणलो] आत्मा रूपी अग्नि [पयासेइ] प्रकट होती है ।

मन नष्ट होने पर आत्मा परमात्मा बनता है

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे ।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥85॥
शून्य बने मन-गेह जब, अक्ष क्रिया हो नष्ट ।
आतम तब परमात्मा, प्रकटित हो निज इष्ट ॥८५॥
अन्वयार्थ : [मणगेहे] मन रूपी घर के [उव्वसिए] ऊजड़ होने पर [णीसेसकरणवावारे] समस्त इन्द्रियों का व्यापार [णट्ठे] नष्ट हो जाने पर

और [ससहावे] स्वकीय स्वभाव को [विप्फुरिए] प्रकट होने पर [अप्पा] आत्मा [परमप्पओ] परमात्मा [हवइ] होता है ।

शून्य ध्यान से समस्त कर्म क्षय

इयएरिसम्मि सुण्णे झाणे झाणिस्स वट्टमाणस्स ।
चिरबद्धाण विणासो हवइ सकम्माण सव्वाणं ॥86॥
निर्विकल्प इस ध्यान में, जिस ध्यानी का वास ।
दीर्घ बद्ध उस जीव के, होते कर्म विनाश ॥८६॥
अन्वयार्थ : [इयएरिसम्मि] इसप्रकार के [सुण्णे] शून्य [झाणे] ध्यान में [वट्टमाणस्स] स्थित [झाणिस्स] ध्याता के [चिरबद्धाण] चिरकाल से बँधे हुए [सव्वाणं सकम्माण] समस्त अपने कर्मों का [विणासो] विनाश [हवइ] होता है ।

कर्म नष्ट होने का फल

णीसेसकम्मणासे पयडेइ अणंतणाणचउखंधं ।
अण्णेवि गुणा य तहा झाणस्स ण दुल्लहं किंपि ॥87॥
कर्मनाश से हो प्रकट, ज्ञानादिक गुण चार ।
तथा और भी हों प्रकट, सुलभ ध्यान से सार ॥८७॥
अन्वयार्थ : [णीसेसकम्मणासे] समस्त कर्मों का नाश होने पर [अणंतणाणचउखंधं] अनन्तज्ञानादि चतुष्टय प्रकट होता है [तहा अण्णेवि गुणा] तथा अन्य गुण भी प्रकट होते हैं । सो ठीक ही है, क्योंकि [झाणस्स] ध्यान के लिए [किंपि] कुछ भी [दुल्लहं] दुर्लभ [ण] नहीं है ।

केवलज्ञान

जाणइ पस्सइ सव्वं लोयालोयं च दव्वगुणजुत्तं ।
एयसमयस्स मज्झे सिद्धो सुद्धो सहावत्थो ॥88॥
लोकालोक समस्त निज, गुण-पर्याय प्रयुक्त ।
जाने, देखे समय में, उन्हें सिद्ध स्वात्मस्थ ॥८८॥
अन्वयार्थ : [सुद्धो] शुद्ध और [सहावत्थो] स्वभाव में स्थित [सिद्धो] सिद्ध भगवान [एयसमयस्स मज्झे] एक समय के बीच [दव्वगुणजुत्तं] द्रव्य और गुण से युक्त [सव्वं लोयालोयं च] समस्त लोक और अलोक को [जाणइ पस्सइ] जानते-देखते हैं ।

केवल-सुख

कालमणंतं जीवो अणुहवइ सहावसुक्खसंभूइं ।
इंदियविसयातीदं अणोवमं देहपरिमुक्को ॥89॥
आत्मजन्य सुख अनुभवें, सिद्ध अपरिमित काल ।
जो सुख विषयातीत है, अनुपम और विशाल ॥८९॥
अन्वयार्थ : [देहपरिमुक्को] शरीर से रहित [जीवो] सिद्धात्मा [कालमणंतं] अनन्त काल तक [इंदियविसयातीदं] इन्द्रिय के विषयों से रहित और [अणोवमं] अनुपम [सहावसुक्खसंभूइं] स्वाभाविक सुख की विभूति का [अणुहवइ] अनुभव करते हैं ।

आराधना से सिद्धि

एवं णाऊणं आराहउ पवयणस्स जं सारं ।
आराहणचउखंधं खवओ संसारमोक्खट्ठं ॥90॥
चतुराराधन साधना, है प्रवचन का सार ।
आराधे इनको क्षपक, हो जिससे भव पार ॥९०॥

अन्वयार्थ : [इय एवं णाऊणं] इसे इस तरह जान कर [खवओ] क्षपक [संसारमोक्खट्ठं] संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिए [जं पवयणस्स सारं] जो आगम का सार है [तं] उस [आराहणचउखंधं] आराधना चतुष्टय की [आराहउ] आराधना करे ।

मोक्ष-मार्गी की प्रशंसा

धण्णा ते भयवंता अवसाणे सव्वसंगपरिचाए ।
काऊण उत्तमट्ठं सुसाहियं णाणवंतेहिं ॥91॥
धन्य सदा भगवान वे, तजकर जगत पदार्थ ।
साधा अन्तिम काल में, उत्तम आत्मपदार्थ ॥९१॥
अन्वयार्थ : जिन [णाणवंतेहिं] ज्ञानवान जीवों ने [अवसाणे] जीवन के अन्त में [सव्वसंगपरिचाए] समस्त परिग्रह का त्याग [काऊण] कर [उत्तमट्ठं] मोक्ष अथवा समाधिमरण को [सुसाहियं] अच्छी तरह सिद्ध कर लिया है [ते] वे [धण्णा] धन्य हैं और [भयवंता] जगत्पूज्य हैं ।

क्षपक की प्रशंसा

धण्णोसि तुं सुज्जस लहिऊणं माणुसं भवं सारं ।
कयसंजमेण लद्धं सण्णासे उत्तमं मरणं ॥92॥
धन्य धन्य! तुम हो क्षपक, पाकर नर-भव सार ।
तन तजकर संन्यास से, करो आत्म उद्धार ॥९२॥
अन्वयार्थ : [सुज्जस] हे निर्मल यश के धारक क्षपक ! [सारं] श्रेष्ठ [माणुसं भवं] मनुष्य भव को [लहिऊणं] प्राप्त कर [कयसंजमेण] संयम धारण करते हुए तुमने [सण्णासे] संन्यास में [उत्तमं मरणं] उत्तम मरण [लद्धं] प्राप्त किया है, इसलिए [तुं] तुम [धण्णोसि] धन्य हो, पुण्यशाली हो ।

क्षपक को काय-जनित दुःख

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स ।
खवयस्स हवइ दुक्खं तक्काले कायमणुहूयं ॥93॥
होते ही कृश देह के, करे न वह कुछ काम ।
व्यथित न हो मुनि उस समय, सँभाले परिणाम ॥९३॥
अन्वयार्थ : [तक्काले] संन्यास के समय [तणुसंघाए] शरीर का संघटन [किसिए] कृश होने पर [विगयधामस्स] निर्बल एवं [चिट्ठारहियस्स] चेष्टा रहित [खवयस्स] क्षपक को [कायमणुहूयं] काय और वचन से उत्पन्न होने वाला [दुक्खं] दुःख [हवइ] होता है ।

शयन के दुःख को सहने की प्रेरणा

जइ उप्पज्जइ दुक्खं कक्कससंथारगहणदोसेण ।
खीणसरीरस्स तुमं सहतं समभावसंजुत्तो ॥94॥
कर्कश संस्तर ग्रहण से, होता हो यदि कष्ट ।
सहन करे तनु-क्षीण यति, धर समभाव विशिष्ट ॥९४॥
अन्वयार्थ : हे क्षपक ! [खीणसरीरस्स] क्षीण शरीर को धारण करने वाले तुम्हें [जइ] यदि [कक्कससंथारगहणदोसेण] कठोर संथारे के ग्रहण रूप दोष से [दुक्खं] दुःख [उप्पज्जइ] उत्पन्न होता है तो [तुं] तुम उसे [समभावसंजुत्तो] समभाव से युक्त होकर [सहतं] सहन करो ।

परीषह सहन से कर्मों का क्षय

तं सुगहियसण्णासे जावक्कालं तु वससि संथारे ।

तण्हाइदुक्खतत्तो णियकम्मं ताव णिज्जरसि ॥95॥
हे समाधि साधक मुने, जब तक संस्तर वास ।
वहाँ तृषादिक कष्ट जो, करे कर्म वह नाश ॥९५॥
अन्वयार्थ : हे क्षपक ! [तं] तुम [सुगहियसण्णासे] संन्यास ग्रहण कर [जावक्कालं] जब तक [संथारे वससि] संथारे पर निवास करते हो [ताव] तब तक [तण्हाइदुक्खतत्तो] तृषा आदि के दुःख से संतप्त होते हुए [णियकम्मं] अपने कर्म की [णिज्जरसि] निर्जरा करते हो ।

क्षुधा परीषह सहन से कर्म निर्जरा

जहं जहं पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स ।
तहं तहं गलंति णूणं चिरभवबद्धाणि कम्माइं ॥96॥
क्षुधा परीषह आदि से, हो पीड़ा उत्पन्न ।
चिर भव संचित कर्म सब, उससे होते भिन्न ॥९६॥
अन्वयार्थ : [जहं जहं] जिस-जिस प्रकार [भुक्खाइपरीसहेहिं] क्षुधा आदि परीषहों के द्वारा [देहस्स] शरीर को [पीड़ा] तीव्रतर वेदना [जायइ] उत्पन्न होती है [तहं तहं] उसी-उसी प्रकार क्षपक के [चिरभवबद्धाणि] चिर काल से अनेक भावों में बँधे हुए [कम्माइं] कर्म [णूणं] निश्चित ही [गलंति] गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

कर्मोदय से चारों गतियों में पाए दुखों का स्मरण

तत्तोहं तणुजोए दुक्खेहिं अणोवमेहिं तिव्वेहि ।
णरसुरणारयतिरिए जहा जलं अग्गिजोएण ॥97॥
गतियों में तनु योग से, हुआ दुःखों से तप्त ।
अग्नि योग से नीर ज्यों, होता है संतप्त ॥९७॥
अन्वयार्थ : [अग्गिजोएण] अग्नि के योग से [जलं जहा] जल के समान [अहं] मैं [तणुजोए] शरीर का संयोग होने पर [तिव्वेहि] तीव्र तथा [अणोवमेहिं] अनुपम [दुक्खेहिं] दुःखों के द्वारा [णरसुरणारयतिरिए] मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच गति में [तत्तो] संतप्त हुआ हूँ ।

क्षपक को भेदज्ञान से सुख

ण गणेइ दुक्खसल्लं इयभावणभाविओ फुडं खवओ ।
पडिवज्जइ ससहावं हवइ सुही णाणा सुक्खेण ॥98॥
ज्ञान भावना युक्त ऋषि, गिने न दुःख को लेश ।
पाता आत्मस्वभाव को, होता सुखी विशेष ॥९८॥
अन्वयार्थ : [इयभावणभाविओ] इसप्रकार की भावना से सुसंस्कृत [खवओ] क्षपक [फुडं] स्पष्ट ही [दुक्खसल्लं] दुःख रूपी शल्य को [ण गणेइ] कुछ नहीं गिनता है [ससहावं] अपने स्वभाव को [पडिवज्जइ] प्राप्त होता है और [णाणासुक्खेण] भेदज्ञान जनित सुख से [सुही] सुखी [हवइ] होता है ।

पर-भाव से विरक्त हो निज में लीन रहने की प्रेरणा

भित्तूण रायदोसे छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे ।
अगणंतो तणुदुक्खं 2झायस्स णिजप्पयं खवया ॥99॥
राग-द्वेष को भेद कर, विषय-सुखों को छोड़ ।
क्षपक न तनु दुःख मान तू, निज में निज को जोड़ ॥९९॥
अन्वयार्थ : [खवया] हे क्षपक ! तुम [रायदोसे] राग.द्वेष को [भित्तूण] भेद कर [य] तथा [विसयसंभवे] विषयों से उत्पन्न होने वाले [सुक्खे] सुखों को [छित्तूण] छेद कर [तणुदुक्खं] शरीर के दुःख को [अगणंतो] कुछ नहीं गिनते हुए [णिजप्पयं] स्वकीय आत्मा का

[झायस्स] ध्यान करो ।

आत्मा को तप द्वारा कर्म से मुक्ति

जाव ण तवग्गितत्तं सदेहमूसाइं णाणपवणेण ।
ताव ण चत्तकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ ॥100॥
ज्ञान पवन से देह में, जलती जब तप-ज्वाल ।
चेतन-सोना शुद्ध हो, तज कलंक तत्काल ॥१००॥

अन्वयार्थ : [खु] निश्चय से [जाव] जब तक [जीवसुवण्णं] आत्मा रूपी सुवर्ण [सदेहमूसाइं] अपने शरीर रूपी साँचे [मूस] के भीतर [णाणपवणेण] ज्ञान रूपी वायु द्वारा [तवग्गितत्तं] तप रूपी अग्नि से संतप्त [ण] नहीं होता [ताव] तब तक [चत्तकलंकं] कर्म रूपी कालिमा से रहित [ण णिव्वडइ] नहीं निकलता / होता ।

मैं देह-मन नहीं अत: मुझे दुःख नहीं

णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं ।
समभावणाइ जुत्तो विसहसु दुक्खं अहो खवय ॥101॥
नहीं देह मैं मन नहीं, मुझे न है दुःख लेश ।
यों मुनि समता भाव से, सभी सहें दुःख क्लेश ॥१०१॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं [देहो ण] शरीर नहीं हूँ [मणो ण] मन नहीं हूँ [तेण] इसलिए [इत्थ दुक्खाइं] शरीर और मन में होने वाले दुःख [मे ण अत्थि] मेरे नहीं होते । [समभावणाइ जुत्तो] इसप्रकार की समभावना से युक्त होते हुए [अहो खवय] हे क्षपक ! [दुक्खं विसहसु] दुःख सहन करो ।

मरण, रोगादिक शरीर को, मुझे दुःख नहीं

ण य अत्थि कोवि वाही ण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स ।
वाही मरणं काए तम्हा दुक्खं ण मे अत्थि ॥102॥
मैं विशुद्ध चैतन्य हूँ, मुझमें मरण न व्याधि ।
मरण-व्याधि है काय के, मुझे न दुःख-उपाधि ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [विसुद्धस्स] विशुद्ध स्वभाव को धारण करने वाले मेरे लिए [ण कोवि वाही अत्थि] न कोई शारीरिक पीड़ा है [ण य मरणं अत्थि] और न मेरा मरण है [वाही मरणं] शारीरिक पीड़ा और मरण तो [काए] शरीर में हैं [तम्हा] इसलिए [मे दुक्खं ण अत्थि] मुझे दुःख नहीं है ।

मैं पर-भावों से भिन्न, एक, शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी, सुखी

सुक्खमओ अहमेक्को सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो ।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥103॥
शुद्ध, एक मैं हूँ सुखी, दृग, अवगम भरपूर ।
कर्म-जनित परभाव जो, वे सब मुझसे दूर ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं [सुक्खमओ] सुखमय [एक्को] एक [सुद्धप्पा] शुद्धात्मा तथा [णाणदंसणसमग्गो] ज्ञान-दर्शन में परिपूर्ण हूँ [अण्णे जे परभावा] अन्य जो
परभाव हैं [ते सव्वे] वे सब [कम्मणा जणिया] कर्म से उत्पन्न हैं ।

मैं नित्य, सुख-स्वभावी, अरूपी, चिद्रूपी

णिच्चो सुक्खसहावो जरमरणविवज्जिओ सयारूवी ।
णाणी जम्मणरहिओ 1इक्कोहं केवलो सुद्धो ॥104॥
जन्म-मरण वर्जित सदा, सुखमय, नित्य, अरूप ।
जरा रहित, ज्ञानी, विमल, मैं केवल चिद्रूप ॥१०४॥

अन्वयार्थ : क्षपक को ऐसी भावना करनी चाहिए कि [अहं] मैं [णिच्चो] नित्य हूँ [सया] सर्वदा [सुक्खसहावो] सुख स्वभाव वाला हूँ [जरमरणविवज्जिओ] जरा और मरण से रहित हूँ [सयारूवी] हमेशा अरूपी हूँ [णाणी] ज्ञानी हूँ [जम्मणरहिओ] जन्म से रहित हूँ [इक्कोहं] एक हूँ [केवली] पर की सहायता से रहित हूँ और [सुद्धो] शुद्ध हूँ ।

इस भावना के साथ शरीर से आत्मा को पृथक करो

इय भावणाइं जुत्तो अवगण्णिय देहदुक्खसंघायं ।
जीवो देहाउ तुमं कड्ढसु खग्गुव्व कोसाओ ॥105॥
कर ऐसी सद्भावना, देह-दुःख मत मान ।
तन से चेतन भिन्न कर, जैसे कोश-कृपाण ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [इय भावणाइं] ऐसी भावना से [जुत्तो] युक्त होकर [तुं] तुम [देह दुक्खसंघायं] शरीर सम्बन्धी दुःखों के समूह की [अवगण्णिय] उपेक्षा कर
[जीवो] जीव को [देहाउ] शरीर से [कोसाओ] म्यान से [खग्गुव्व] तलवार की तरह [कड्ढसु] पृथक् निकालो ।

आर्त-रौद्र-ध्यान रहित होकर शरीर को त्यागो

हणिऊण अट्टरुद्दे अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण ।
भावियसहाउ जीवो कड्ढसु देहाउ मलमुत्तो ॥106॥
आत्म-तत्त्व में हो सुदृढ़, आर्त्त-रौद्र को छोड़ ।
आत्म-भाव धारक क्षपक, तन से निज को मोड़ ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [भावियसहाउ] हे स्वभाव की भावना करने वाले क्षपक ! [अट्टरुद्दे] आर्त और रौद्रध्यान को [हणिऊण] नष्ट कर [अप्पा] आत्मा को [परमप्पयम्मि] परमात्मा में [ठविऊण] लगाकर [मलमुत्तो जीवो] निर्मल जीव को [देहाउ] शरीर से [कड्ढसु] पृथक् करो ।

कालादि लब्धि द्वारा कर्म-नष्ट करके उसी भव से मुक्ति

कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं ।
केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्मि भवे ॥107॥
पाकर के कालादि को, छेद कर्म-जंजीर ।
होकर केवलज्ञानमय, भव्य तिरें भव नीर ॥१०७॥

अन्वयार्थ : [भविया] भव्य जीव [कालाई लहिऊणं] काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर [य] तथा [अट्ठकम्मसंखलयं] आठ कर्मों की श्रृंखला को [छित्तूण] छेदकर [केवलणाणपहाणा] केवलज्ञान से युक्त होते हुए [तम्मि भवे] उसी भव में [सिज्झंति] सिद्ध हो जाते हैं ।

कर्म शेष रह जाने पर स्वर्गों में वास

आराहिऊण केइ चउव्विहाराहणाइं जं सारं ।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति ॥108॥
पाप-कर्म के उदय से, हो दुर्गति में त्रास ।
बचे हुए कुछ पुण्य से, हो स्वर्गादि निवास ॥१०८॥

अन्वयार्थ : [उव्वरियसेसपुण्णा] जिनकी पुण्य प्रकृतियाँ नष्ट होने से शेष बची हैं, ऐसे [केई] कोई आराधक [चउव्विहाराहणाइं जं सारं]

चार प्रकार की आराधनाओं में जो श्रेष्ठ है, उस शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा की [आराहिऊण] आराधना करके [सव्वट्ठणिवासिणो] सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले [हुंति] होते हैं ।

जघन्य आराधक को भी कुछ भव में मुक्ति

जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं ।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेवि य पावंति णिव्वाणं ॥109॥
है जघन्य आराधना, उसको इस विध जान ।
धर कर वे सप्ताष्ट भव, पाते हैं निर्वाण ॥१०९॥

अन्वयार्थ : [हु] निश्चय से [जेसिं] जिन [खवयाणं] क्षपकों के [जहण्णा चउव्विहाराहणा] चार प्रकार की जघन्य आराधनाएँ [हुंति] होती हैं [तेवि य] वे भी [सत्तट्ठभवे] सात-आठ भव [गत्वा] व्यतीत कर [णिव्वाणं पावंति] निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

आराधक उत्तम देव-मनुष्यों में सुख भोगता हुआ मुक्त होता है

उत्तमदेवमणुस्से सुक्खाइं अणोवमाइं भुत्तूण ।
आराहणउवजुत्ता भविया सिज्झंति झाणट्ठा ॥110॥
अमर, मनुज गति के मधुर, अनुपम, सुख को भोग ।
आराधक ध्यानस्थ जन, होते सिद्ध, अयोग ॥११०॥

अन्वयार्थ : [आराहणउवजुत्ता] आराधना में उपयुक्त तथा [झाणट्ठा] ध्यान में स्थित [भविया] भव्यजीव [उत्तमदेव मणुस्से] उत्तम देव और मनुष्यों में [अणोवमाइं] अनुपम [सुक्खाइं] सुख [भुत्तूण] भोग कर [सिज्झंति] सिद्ध होते हैं ।

आत्म-ध्यान से रहित को तप द्वारा भी मुक्ति नहीं

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं ।
जाम ण झावइ अप्पा ताम2ण मोक्खो जिणो भणइ ॥111॥
संयम पाले तप तपे, करे शास्त्र-अभ्यास ।
आत्मध्यान बिन, जिन करें, नहीं मुक्ति में वास ॥१११॥

अन्वयार्थ : प्राणी [अइ तवं कुणउ] अत्यन्त तप करे, [संजमं पालेउ] संयम का पालन करे और [सयल सत्थाइं पढउ] समस्त शास्त्रों को पढ़े, किन्तु [जाम] जब तक [अप्पा ण झावइ] आत्मा का ध्यान नहीं करता है [ताम] तब तक [मोक्खो] मोक्ष नहीं होता ऐसा [जिणो भणइ] जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

जिन-लिंग द्वारा ही मुक्ति

चइऊण सव्वसंगं लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं ।
अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण ॥112॥
सर्व परिग्रह त्याग कर, धर जिनेन्द्र का वेश ।
ध्याता निज चैतन्य मुनि, पाता सिद्धि अशेष ॥११२॥

अन्वयार्थ : [भविया] भव्यजीव [सव्वसंगं] सर्व परिग्रह को [चइऊण] छोड़कर [जिणवरिंदाणं] जिनेन्द्र भगवान का [लिंगं] दिगम्बर वेष [धरिऊण] धारण कर तथा [अप्पाणं झाऊण] आत्मा का ध्यान कर [णियमेण] नियम से [सिज्झंति] सिद्ध होते हैं ।

आराधना के उपदेशक को नमस्कार

आराहणाइ सारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं ।
आराहियं च जेहिं ते सव्वेहं पवंदामि ॥113॥

महा मुनीन्द्रों ने कहा, यह आराधन सार ।
आराधा जिसने इन्हें, वन्दन उन्हें अपार ॥११३॥

अन्वयार्थ : [जेहिं मुणिवरिंदेहिं] जिन मुनिराजों ने [आराहणाइसारं] आराधनासार का [उवइट्ठं] उपदेश दिया है [च] और [जेहिं] जिन मुनिराजों ने [आराहियं] उसकी आराधना की है [ते सव्वे] उन सब की [अहं] मैं [पवंदामि] वन्दना करता हूँ ।

आचार्य अपनी लघुता प्रकट करते हैं

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि ।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥114॥
मुझमें नहीं कवित्व है, नहीं छन्द का ज्ञान ।
आत्मभावना के लिए, आराधना कृति जान ॥११४॥

अन्वयार्थ : [ण मे कवित्तं अत्थि] न मैं कवि हूँ [य] और [ण किंपि छंदलक्खणं मुणामो] न मैं छंदों का लक्षण जानता हूँ । मैंने तो [णियभावणाणिमित्तं] मात्र
अपनी भावना के कारण [आराहणासारं] आराधनासार [रइयं] रचा है ।

आचार्य द्वारा लघुता प्रदर्शन

अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण ।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम् ॥115॥
देवसेन ने वह कहा, जो है आगम सिद्ध ।
शुद्ध करें मुनिजन उसे, जो हो कहीं विरुद्ध ॥११५॥

अन्वयार्थ : [अमुणियतच्चेण] तत्त्व को नहीं जानने वाले [देवसेणेण] देवसेन ने [इमं] यह [जं किंपि] जो कुछ [भणियं] कहा है, इसमें [हु] निश्चय से [जइ] यदि कुछ [पवयणविरुद्धं] आगम से विरुद्ध हो तो [तं] उसे [मुणिंदा] मुनिराज [सोहंतु] शुद्ध कर लें ।